व्यक्ति एवं समाज

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

जैन-संस्कृति की प्रासंगिकता

जैन-संस्कृति की सबसे बड़ी देन अहिंसा है। अहिंसा का महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और इसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-काण्ड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन-संस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे, आस-पास के सभी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे, और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही विनाश का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह तो प्रकृति की ओर से मिलने वाला मामूली-सा ही है। यदि अन्तः निरीक्षण किया जाए तो प्रकृति दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य के ऊपर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जंचा दो कि वह स्व में ही सन्तुष्ट रहे, पर की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरे के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुस्साहस करना।

जब तक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब के सब मनुष्य अपने-अपने स्व में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहां मनुष्य अपने आपे से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर अधिकार जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पांचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा स्व में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं ? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन में सुख-साधनों की उपेक्षा कर मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें, तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म-रक्षा के लिये उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैन धर्म के विरुद्ध नहीं है परन्तु आवश्यकता से अधिक सगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों में जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चल रहा था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध-सामग्री रखने को कहा जा रहा था, उसे तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम में आनेवाले शस्त्रों से अधिक संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कहीं न कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन-तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बन कर युद्ध के समर्थन में लगते आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण करने का विचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। प्रश्न, व्याकरण और भगवती सूत्र युद्ध के विरोध में क्या कहते हैं ? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। औपपातिक सूत्र में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुंचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने ज़रा भी समर्थन नहीं किया, प्रत्युत् नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप-कर्मों का भण्डाफोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है। किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता का रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्व-बन्धुत्व करते थे। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो। जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था दूसरों के जीने में मदद करो, बल्कि अवसर आने पर ऐसे जीवन को कोई महत्त्व न देते थे, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एकमात्र भक्तिवाद के अर्थ (शून्य क्रिया-काण्डों) में ही उलझा रहता हो।

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन पर प्रसन्न नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं, बल्कि मैं तो उन पर प्रसन्न हूं, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—प्राणीमात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुंचाना। भगवान् महावीर का महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आंखों के सामने है। उस सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हममें से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति में देख सकता है।

अहिंसा के अग्रगण्य संदेशवाहक भगवान् महावीर हैं। आज तक उन्हीं के अमर सन्देशों का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है कि आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था किन्तु भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया जिससे भारत की काया पलट गई। मनुष्य राक्षसी भावों से हटकर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु सबके प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल गिर रहे हैं। जल, थल, अभी-अभी खून से रंगे जा चुके हैं, और भविष्य में इससे भी भयंकर रंग में रंगने की तैयारियां हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बन्द नहीं हुआ है। परमाणु बम के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आविष्कार की होड़ सब देशों में लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाग्य चक्कर काट रहे हैं। अस्तु, आवश्यकता है आज फिर जैन-संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यों के अहिंसा परमो धर्मः के सन्देश की। मानव-जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एकमात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है। अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

श्रावक का लक्षण

कर्मों का जटिल जाल छिन्न-भिन्न करके आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिए उन क्रियाओं का त्याग करना कार्यकारी है जिनसे वह कर्मजाल टूटने के बजाय मजबूत होता जाता है। क्योंकि जिन क्रियाओं से कर्मबन्धन जटिल होता है, उन क्रियाओं को छोड़ कर उनसे विपरीत क्रियाएं करने से ही कर्मों से छुटकारा मिल सकता है।

कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। अतः आत्मा तथा अजीव, आस्रव आदि अन्य तत्त्वों के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन तत्त्वों की श्रद्धा ठीक करनी चाहिए और कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र, कुगुरु की श्रद्धा भक्ति त्याग कर सत् देव, सत् शास्त्र, सद्गुरु की उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने से मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है जिससे कि मिथ्या श्रद्धान के द्वारा जो कर्म-संचय होता था वह फिर नहीं होने पाता। मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेने पर कर्मबन्धन के दूसरे कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिये जिससे कर्म-आस्रव का दूसरा द्वार बन्द होकर आत्मा का कर्मभार और हल्का हो जाए।

कर्मबन्धन का दूसरा कारण **'अविरति'** यानी **'असंयम'** है। असंयम का अर्थ 'अनियन्त्रण' यानी—अपने वश में न रखना है, जिसका अभिप्राय यह है कि आत्मा जब अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण नहीं रखता है तब इन्द्रियां और मन आत्मा को हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, काम सेवन और परिग्रह-संचय में प्रवृत्त कर देता है। इन क्रियाओं से कर्मबन्धन ही नहीं होता है बल्कि आत्मा को बहुत दुःखदायक, दुर्गतियों में आत्मा की दुर्गति कराने वाला, अशुभ कर्मों का बन्ध हुआ करता है। इस कारण आत्मा की दुर्गति मिटाने के लिये असयम या हिंसा आदि पांच पाप कार्यों को छोड़ना परम आवश्यक है।

पापकार्यों का पूरी तरह से त्याग तो घरबार छोड़कर साधु बन जाने पर होता है क्योंकि साधु अवस्था में न धन-संचय की आवश्यकता है, न चोरी करने, झूठ बोलने और किसी जीव की हिंसा करने की आवश्यकता है। स्त्रियों का सम्पर्क तो बिल्कुल ही छूट जाता है। अतः कामसेवन का वहां पर कुछ काम नहीं। इसी तरह मुनिदशा में अविरतिका संसर्ग पूरी तरह से दूर हो जाता है। परन्तु गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ इन पांच पापों को पूरी तरह नहीं त्याग सकता, क्योंकि खेतीबाड़ी, वाणिज्य, व्यापार द्वारा घर-परिवार के लिये धन-संचय की आवश्यकता होती है। इन कार्यों में कुछ न कुछ जीव-हिंसा होती ही है, थोड़ा-बहुत असत्य बोले बिना व्यापारिक कार्य नहीं होते। सन्तान उत्पन्न करने के लिये विवाह करना तथा मैथुन क्रिया होती है, घर के लिये आवश्यक अन्न, वस्त्र, बर्तन, घर, रुपया, पैसा आदि वस्तुओं का संचय करना ही पड़ता है। अतः गृहस्थ पापों को पूर्ण तौर से नहीं त्याग सकता।

इस कारण सम्यग्दृष्टि पापपंक से बचने के लिये संकल्पी त्रसजीवों की हिंसा (जान-बूझकर द्विइन्द्रिय आदि जीवों को मारना) का त्याग कर देता है। राज्य से दण्डनीय और पंचों से भण्डनीय (निन्दनीय) असत्य बोलने का त्याग कर देता है। जल और मिट्टी (जिन पर कि किसी विशेष व्यक्ति का अधिकार नहीं है) के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ बिना पूछे नहीं लेता। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियों से काम-सेवन का त्याग कर देता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार धन-सम्पत्ति नियमित करके और अधिक धन-सग्रह करने का त्याग कर देता है। इस तरह पांचों पापों का वह कुछ त्याग कर देता है। इसी कारण उसके इस त्याग को **'अणुव्रत'** कहते हैं।

इस धार्मिक गृहस्थ का दूसरा नाम **'श्रावक'** भी है जिसका अपभ्रंश शब्द अनेक जगह **'सरावगी'** प्रचलित हो गया है। श्रावक शब्द का अर्थ 'सुनने वाला' है। यानी—जो अपने निर्ग्रन्थ गुरु से आत्म-कल्याण का उपदेश सुने (शृणोति इति श्रावकः)। श्रावक के अनेक तरह अनेक भेद किये गये हैं। उनके विषय में हम फिर कभी बतलायेंगे। यहाँ पर श्रावक का सामान्य स्वरूप सागारधर्मामृत ग्रन्थ में पण्डितप्रवर श्री आशाधर जी ने जो लिखा है, उसे बतलाते हैं। उन्होंने लिखा है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो न्यायपूर्वक धन-उपार्जन करता हो, अपने गुरुओं की पूजा, उपासना करता हो, सत्य बोलता हो, धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थों का अविरुद्ध सेवन करता हो, अपने योग्य स्त्री, मुहल्ला, घर वाला हो, लज्जाशील हो, योग्य आहार करने वाला हो, सज्जन पुरुषों की संगति करता हो, बुद्धिमान हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रिय-विजयी हो, धर्म-उपदेश को सुनता हो, पापों से भयभीत हो, दयालुचित्त हो, ऐसा पुरुष श्रावक धर्म का आचरण करता है। अर्थात् श्रावक धर्म आचरण करने वाले व्यक्ति को ऊपर कहे गये गुणों से युक्त होना चाहिये।

गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये रुपया-पैसा आदि धन-सम्पत्ति की आवश्यकता हुआ करती है और धन-संचय करने के लिये बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। गृहस्थ का अधिकांश समय इस धन-संचय में ही व्यतीत होता है, अतः धन-संचय करना तो बुरा नहीं है किन्तु वह धन-संचय अन्याय, अनीति, धोखाधड़ी, चोरी, बेईमानी, व्यभिचार, नीच कर्म से नहीं होना चाहिये। मन, शरीर और वचन के परिश्रम से न्यायपूर्वक होना चाहिये। न्यायपूर्वक कमाई अपने लिये तथा अन्य जनता के लिये बहुत लाभदायक होती है। अतः जो व्यक्ति अन्न का व्यापार करता है अथवा पंसारी, सोना-चांदी आदि का कार्य करता है उसको तोलने के बांट और तराजू ठीक रखनी चाहिये तथा तोलने में अनीति न करनी चाहिये। माल लेने के लिये भारी बांट और देने के लिए हल्के बांटों का प्रयोग छोड़ देना चाहिये। तराजू न्याय का चिह्न है अतः तराजू से बावन तोले पाव रत्ती के समान बिल्कुल ठीक तोलना चाहिये। जो व्यक्ति कपड़े का कार्य करता हो उसको नापने का गज ठीक नाप का रखना चाहिये, लेने के लिये लम्बा गज और देने के लिये छोटा गज न होना चाहिये तथा नापने की क्रिया भी ठीक रखनी चाहिये। जो व्यक्ति लेन-देन, साहूकारी का व्यापार करते हों उन्हें लेन-देन, ब्याज-बट्टा आदि में अनीति न करनी चाहिये। कर्ज लेने वाले तथा अपने आभूषण गिरवी रखने वाले गरीब प्रायः अपढ़ अशिक्षित होते हैं, हिसाब नहीं जानते हैं। उनसे लेन-देन में अनीति नहीं करनी चाहिये तथा रुपये पैसे को ही सब कुछ न समझकर गरीबों के साथ व्यापार में दया का बर्ताव करना चाहिये। यदि उनके पास कर्ज चुकाने के लिये कुछ न हो तो उनके रहने की झोंपड़ी नीलाम करा कर उन्हें निराश्रय बनाने की निर्दयता न करनी चाहिये। इसके सिवाय बढ़िया असली चीजों में कम मूल्य की घटिया वस्तु मिलाने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिये। खाने-पीने के पदार्थों तथा औषधियों में मिलावट करना हिंसा जैसा पाप है। इस कारण ऐसे कार्य कभी न करने चाहिये। चुंगी कर की चोरी, आय-कर (इन्कम टैक्स) की भी चोरी न करनी चाहिये। जिस देश में हम रहते हैं, जिस देश की पुलिस सेना हमारे प्राणों तथा सम्पत्ति की रक्षा करती है उस देश की शासन-व्यवस्था चलाने के लिये जा कर लगाये जाते हैं उनकी चोरी करना देशद्रोह है। देशद्रोह भी महान् पाप है।

व्यापार करते समय भावना लोककल्याण की रखनी चाहिये। कोई लोभी वैद्य व डाक्टर मन में सोचते रहते हैं कि रोग, बीमारियां फैलें तो हमारा व्यापर खूब चले। अनाज के व्यापारी बहुत-से नीच स्वार्थी लोग दुष्काल होने की भावना करते हैं जिससे उनको अच्छा लाभ हो, इत्यादि भावनाएं बहुत बुरी हैं। जैन व्यापारियों को ऐसी भावना कदापि न करनी चाहिये। जो व्यक्ति नौकरी करके धन-उपार्जन करते हैं उनको भी अपना कार्य नीतिपूर्वक ईमानदारी से करना चाहिये। जो कार्य उनको दिया जाय उसको अपना निजी कार्य समझकर नियत समय के भीतर समाप्त करने का यत्न करना चाहिये। जिसकी नौकरी करे उसको हानि पहुंचाने की चेष्टा कदापि न करनी चाहिये।

इसी तरह मालिक को भी अपने नौकरों के साथ अपने पुत्रों तथा भाइयों के समान मीठा व्यवहार करना चाहिये, न उनके साथ कठोर बर्ताव करना चाहिये, न उनके वेतन देने में रंचमात्र अनीति करनी चाहिये। जहां तक हो सत्य बोलना चाहिये। जिस तरह मधु-मक्खी फूलों को बिना कष्ट पहुंचाये उनसे रस ले आती है इसी तरह जनता को कष्ट न देते हुए न्याय-नीति से व्यापार करना चाहिये। जो व्यक्ति दर्शन ज्ञान चारित्र में अपने से अधिक हैं ऐसे गुणवान सद्गुरुओं का आदर, विनय, सन्मान करना धार्मिक श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। संसार से पार करने वाले साक्षात् तरणतारण गुरु ही होते हैं। उनके समान उपकार करने वाला व्यक्ति और कोई नहीं होता। इसलिये उनके गुण प्राप्त करने के लिये श्रद्धा से उनकी पूजा-उपासना करनी चाहिये।

जैन श्रावक की वाणी (वचन) हित, मित, प्रिय, प्रामाणिक होनी चाहिये। वचन में क्रोध, अभिमान की झलक न हो, स्व-पर हितकारक हो तथा सत्य हो। भय-उत्पादक, क्षोभ उत्पन्न करने वाली बात न कहनी चाहिये। दीन-दुःखी प्राणियों के साथ मीठा बोलना चाहिये तथा आवश्यकता से अधिक न बोलना चाहिये।

धर्म-साधन करने से पुण्य-कर्म का बन्ध होता है, पुण्य कर्म के उदय से धन का लाभ होता है, धन से इन्द्रियों के विषय-भोगों की साधन-सामग्री प्राप्त होती है। अतः सबसे प्रधान लक्ष्य धर्म-सेवन का होना चाहिये। प्रातःकाल सबसे पहले पवित्र होकर भगवान् का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया करनी चाहिये। फिर व्यापार आदि धन-उपार्जन का कार्य करना चाहिये। रात्रि में गुणी धार्मिक सन्तान के उत्पादन के लिये काम पुरुषार्थ करना चाहिये। रजस्वला के समय, रोगी दशा में, अष्टान्हिका, दशलाक्षणी, अष्टमी व चतुर्दशी को तथा गर्भाधान के बाद पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, शेष दिनों में भी अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का यत्न करना चाहिये। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् तेजस्वी होता है, सन्तान गुणवान् होती है, तथा दीर्घ आयु होती है। अतः अपनी स्त्री को शिक्षित बनाकर धर्मात्मा बनाना चाहिये। धार्मिक स्त्री के कारण सारे परिवार को शुद्ध भोजन मिलता है, तथा परिवार में धर्म-आचरण बना रहता है।

रहने को अच्छा घर हो जिसमें खुला प्रकाश, वायु तथा धूप आती हो, जिसमें धुआं न भर जाता हो, सीलन न रहती हो। घर ऐसे स्थान पर हो जहां आस-पास में शराबी, मांस-भक्षक, जुआरी, लुच्चे, चोर, गुण्डे, बदमाश न रहते हों। सद्गृहस्थों का पड़ोस हो। धार्मिक व्यक्ति को बुरे कार्य करने में संकोचशील होना चाहिये। निर्लज्ज मनुष्य निन्दनीय कार्य करते संकोच नहीं करता, अतः उसकी सब जगह निन्दा होती है। धर्मात्मा मनुष्य को अपना खान-पान, आहार-विहार शुद्ध सात्त्विक रखना चाहिये। अभक्ष्य पदार्थ, नशीली चीजें, रोग पैदा करने वाली वस्तुयें न खानी चाहियें।

सदा सज्जन पुरुषों की संगति करनी चाहिये। दुर्जन, दुर्गुण, मूर्ख, व्यसनी पुरुषों की संगति से सदा दूर रहना चाहिये। मनुष्य के आचार व्यवहार पर संगति का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। कुसंगति मनुष्य को बर्बाद कर देती है और सत्संगति से मनुष्य का उद्धार हो जाता है। अतः सदा सज्जन पुरुषों के समागम में रहना चाहिये।

सन्तान-शिक्षण

यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता जायगा। ये जगत्वर्ती समस्त जड़-चेतन पदार्थ भी अनादि काल से चले आ रहे हैं और वे सभी अनन्त काल तक बने रहेंगे। न तो उनमें परमाणु मात्र कम होगा और न उनमें परमाणु मात्र कोई पदार्थ नवीन ही उत्पन्न होगा ; जितने हैं उतने ही रहेंगे। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार प्रतिसमय परिणमन करता रहेगा; सदा एक ही दशा में न रहेगा। जो दशा पदार्थ की एक क्षण पहले होती है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहने पाती और जो दशा दूसरे क्षण में होती है वह तीसरे क्षण में नहीं रहती। यानी—पर्याय प्रतिक्षण नवीन होती जाती है। यह प्रतिक्षण का परिणमन कोई अन्य व्यक्ति करने नहीं आता, काल द्रव्य की सहायता से प्रत्येक पदार्थ स्वयं उस तरह परिणमन करता है।

इस तरह प्रत्येक पदार्थ अविनाशी, शाश्वत होता हुआ भी उसकी दशा सदा प्रतिक्षण परिणमनशील है। इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, प्रति समय सभी पदार्थों में होता रहता है। यही कारण है कि जीव अविनाशी अजर-अमर है, वहां वह सदा परिवर्तनशील भी है। तदनुसार जगत् में कोई भी जीव ऐसा नहीं जो कि किसी विशेष समय उत्पन्न हुआ हो। किन्तु कोई भी जीव ऐसा नहीं जो अनादि काल से अब तक एक सी ही दशा में चला आया हो। मनुष्यों की तथा विभिन्न थलचर, जलचर, नभचर पशु-पक्षियों की सत्ता जैसे करोड़ों वर्ष पहले थी उसी तरह आज भी है, परन्तु वे सन्तान परम्परा से ही मौजूद हैं, वैसे के वैसे नहीं हैं। जैसे बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, इसी तरह पिता-पुत्र की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है।

पिता के संस्कार, गुण, अवगुण उसकी सन्तान में आया करते हैं। तदनुसार भगवान् ऋषभनाथ की धर्म-परम्परा अभी तक चली आ रही है। पुत्र अपने पिता की छाया-अनुरूप होता है। अतः पिता जिस धर्म का अनुयायी होता है, प्रायः पुत्र भी उसी धर्म का आचरण करता है। इस तरह सन्तान अपने पिता की विरासत को सुरक्षित रखकर आगे चलती रहती है।

जिस तरह अच्छा वृक्ष उत्पन्न करने के लिये अच्छा बीज और अच्छी भूमि की आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छा तेजस्वी, गुणी, बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न करने के लिये अच्छे बीज तथा अच्छी भूमि की आवश्यकता है। वीर्य बीज रूप है और माता का गर्भाशय भूमि के अनुरूप है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महान् पराक्रमी पुत्रों को उत्पन्न करने वाले माता-पिता भी असाधारण व्यक्ति होते थे।

श्री मानतुङ्गाचार्य ने भक्तामरस्तोत्र में कहा है—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ।।२२।।

हे भगवान् ! पुत्रों को तो सैकड़ों स्त्रियां जन्म देती हैं किन्तु आप सरीखे पुत्र को आपकी माता के सिवाय अन्य किसी माता ने जन्म नहीं दिया। सो ठीक है, सूर्य को धारण तो सभी दिशाएं करती हैं परन्तु सूर्य का उदय तो पूर्व दिशा से ही हुआ करता है, अन्य किसी से नहीं होता।

इसलिए तेजस्वी गुणी पुत्र उत्पन्न करने के लिये माता-पिता को विशेष सावधानी रखनी चाहिये। गर्भाधान के समय पति और पत्नी की ऐसी शुभ भावना होनी चाहिये कि हमारे अच्छा तेजस्वी, गुणवान्, विद्वान्, धर्मात्मा, कुलदीपक पुत्र हो जो कि अपने गुणों तथा शुभ कार्यों से संसार में अपना तथा हमारे कुल का यश फैलाए। ऐसी शुभ कामना हृदय में रख कर गर्भाधान संस्कार किया जाए। इस विषय को आदिपुराण से और भी अधिक जान लेना चाहिये।

गर्भाधान हो जाने पर पति-पत्नी को सन्तान-प्रसव होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहना चाहिये। इस ब्रह्मचर्य के पालन से गर्भस्थ सन्तान पर सदाचार के संस्कार स्थापित होते हैं। दुराचारी सन्तान उत्पन्न होने में अन्य कारणों के अतिरिक्त एक विशेष कारण यह भीं है कि उन सन्तानों के माता पिताओं ने गर्भाधान के बाद ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया। इसके सिवाय उस समय की काम-क्रीड़ा गर्भस्थ शिशु के शरीर पर तथा स्त्री के शरीर पर भी बुरा प्रभाव डालती है।

ब्रह्मचर्य धारण करने के साथ ही साथ पति-पत्नी को गर्भाधान के दिनों में परस्पर बहुत शान्ति, उत्साह, हर्ष के साथ रहना चाहिए। पत्नी को सन्तुष्ट रखना, उसकी इच्छाओं की पूर्ति करना, उसको कोई चिन्ता, शोक, भय, खेद, क्लेश, कलह पैदा न होने की व्यवस्था करना पति का कर्तव्य है। अपनी गर्भिणी भार्या को सुन्दर, गुणी, यशस्वी पुरुषों के चित्र दिखाना, उसको पराक्रमी, गुणी, विद्वान् पुरुषों के चरित्र सुनाना, उसका चित्त हर्षित रखना बहुत आवश्यक है। गर्भिणी पत्नी का कर्तव्य है कि वह यथासंभव निरालस्य रहकर हलके परिश्रम के कार्य करती रहे। भारी परिश्रम के कार्य न करे, भागना, दौड़ना, जल्दी सीढ़ियों पर उतरना-चढ़ना बन्द रक्खे तथा प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करे, शास्त्रों का स्वाध्याय करती रहे। अकलंक देव, समन्तभद्र, जिनसेन, वीरसेन, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त आदि के जीवन-चरित्र पढ़े। तीर्थंकरों, भरत, बाहुबली, सुकुमाल, जम्बूकुमार, प्रद्युम्न, बलभद्र, नारायण, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, पवनंजय, हनुमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु आदि महान् पराक्रमी, गुणी, बुद्धिमान, लोकोत्तर व्यक्तियों की जीवन-घटनाओं को बड़ी रुचि और उत्साह से पढ़ती रहे। उनके चित्र बड़े ध्यान से देखती रहे।

ऐसे कार्यों का प्रभाव गर्भस्थ सन्तान पर बहुत अच्छा पड़ता है। माता के विचारों और भावना के संस्कार गर्भस्थ सन्तान के ऊपर अंकित हो जाते हैं। महाभारत में अभिमन्यु के विषय में कथा आई है कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ में था तो एक दिन उसे कुछ पीड़ा हुई तो अर्जुन ने उसका चित्त उस ओर से हटाने के लिये सुभद्रा को चित्र खींचकर चक्रव्यूह (गोल आकार में सेना को खड़ी करना) तोड़ने की विधि बतलाई। सुभद्रा ने उसे बहुत ध्यान से सुना और वह चित्र भी देखा। अर्जुन जब उसको चक्रव्यूह तोड़कर घुस जाने की विधि समझा चुका तो सुभद्रा को नींद आ गई। अत: चक्रव्यूह से बाहर निकलने की जो विधि अर्जुन ने समझाई उसे वह न सुन पाई। इसका प्रभाव यह हुआ कि गर्भस्थ बालक अभिमन्यु के हृदय पर सुभद्रा की समझ के अनुसार चक्रव्यूह तोड़ने के संस्कार जम गये पर चक्रव्यूह से बाहर निकलने की वार्ता उसे मालूम न हो पाई। तदनुसार कौरवों के जिस चक्रव्यूह को महा बलवान् भीम भी न तोड़ पाया उस चक्रव्यूह का अभिमन्यु ने बिना सीखे अपने नवयौवन में तोड़कर गर्भाधान के समय के संस्कार का परिचय दिया।

सारांश यह है कि गर्भाधान के बाद सन्तान उत्पन्न होने तक पत्नी के जैसे अच्छे-बुरे विचार होंगे वैसे ही संस्कार सन्तान पर आवेंगे। इसके अतिरिक्त गर्भिणी स्त्री को अपना रहन-सहन, खान-पान, बोलना-चालना आदि भी ठीक रखना चाहिए। उन दिनों में भोजन शुद्ध, हलका, सात्विक होना चाहिये। आंखों में सुर्मा आदि न लगाना चाहिये, जिससे शिशु के नेत्र ठीक रहें। उबटन न करना चाहिये। घर साफ-सुथरे रहने चाहिये और हृदय में कोई बुरी भावना न आने देनी चाहिये। इस तरह गर्भाधान के दिनों में स्त्री को अपने गर्भस्थ शिशु की आत्मा पर अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिये सावधानी से अपना आचार-विचार अच्छा शुभ रखना चाहिये।

बालक उत्पन्न हो जाने पर उसका ठीक ढंग से पालन-पोषण करना चाहिये। दूध पिलाते समय माता का चित्त प्रसन्न होना चाहिए। क्रोध, क्षोभ, भय, घृणा आदि के समय बच्चे को दूध कभी न पिलाना चाहिये। उसको लोरियां देते समय अच्छे उपदेश, उच्च भावना के सूचक सुन्दर गीत गाने चाहिये और अच्छी उच्च शुभ भावना से प्रेम का हाथ बच्चे पर फेरते रहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिये। जहाँ तक हो सके बच्चे को ठीक समय पर दूध पिलाना चाहिये। दूध उतना ही पिलाया जाए जितनी उसे भूख हो। जब उसे पीने की अनिच्छा हो तो जबरदस्ती और दूध न पिलाना चाहिये। न उसे सुलाने के लिये कभी अफीम का अंश देना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये कि बच्चा रोने न पावे। रोने की आदत डलवाना ठीक नहीं। एक वर्ष तक बच्चे के स्वास्थ्य की सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। तदनन्तर ज्यों-ज्यों बडा होता जाए उसके अनुसार उसके आहार-पान की व्यवस्था करते रहना चाहिये।

इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे के सामने कभी काम-सेवन न किया जाए। बच्चों को अबोध समझकर उनके सामने मैथुन क्रिया करना बहुत भारी ग़लती है। बच्चे इतने अबोध नहीं होते जितना कि उन्हें समझा जाता है। बच्चों में भी ज्ञान शक्ति है। वे शिशु अवस्था में बोल नहीं सकते, किन्तु थोड़ा-बहुत समझते सब कुछ हैं। उनके सामने की हुई काम-क्रीड़ा से उनके चरित्र पर दुराचार का प्रभाव तथा संस्कार पड़ता है जो कि उनके बड़े हो जाने पर उनमें प्रकट होता है। अतः यह कार्य उनके सामने कभी न करना चाहिये।

बच्चा ज्यों ही बोलने लगे उसको अच्छी बातें सिखानी चाहिये। बच्चों के सामने गाली-गलौज करना या बुरी बातें कहना व सुनना बहुत बुरा है। बुरी बातें या गालियां सुनकर बच्चे भी वैसा ही बोलना सीख जाते हैं। मूर्ख माता-पिता छोटे वच्चे की तोतली बोली में गाली-गलौज सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं। वे ये नहीं समझते कि तोतली भाषा की वे ही गालियां बच्चों की जीभ पर पक जाती हैं, जो कि आगे चलकर बुरी आदतों में शामिल हो जाती हैं। इसलिए न तो बच्चों के सामने दुर्वचन बोलने चाहिये और न गाली-गलौज ही करनी चाहिये।

इसके सिवाय बच्चों के सामने हंसी-मजाक में झूठ बोलना भी उचित नहीं, क्योंकि बच्चे तो कोरे घड़े के समान शुद्ध हृदय वाले होते हैं। जिस तरह कोरे घड़े को हजार बार धो डालने पर भी उस घड़े से हींग की गंध नहीं जाती, इसी तरह छोटे बच्चों के हृदय पर यदि झूठ बोलने का संस्कार पड़ जाए तो वह भी स्थायी हो जाता है, बड़े होने पर भी नहीं छूटता।

इस कारण बच्चों के सामने हँसी-मजाक में भी झूठी बातें करना ठीक नहीं। उसका उनके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org